
इकाई 11 रससूत्र भरतमुनि और उनके प्रमुख सिद्धांत (अवयव)

इकाई की रूपरेखा

- 11.0 उद्देश्य
- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 रससूत्र भरतमुनि
- 11.3 रससूत्र के प्रमुख सिद्धांत (अवयव)
 - 11.3.1 स्थायीभाव
 - 11.3.2 विभाव
 - 11.3.3 अनुभाव
 - 11.3.4 व्यभिचारी भाव
 - 11.3.5 सात्विक भाव
- 11.4 रससूत्र के प्रमुख सिद्धांतों (अवयवों) के द्वारा रसाभिव्यक्ति
- 11.5 सारांश
- 11.6 शब्दावली
- 11.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 11.8 बोधा/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- भरतमुनि के रससूत्र (विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः) का ज्ञान हो पायेगा। रससूत्र में प्रयुक्त प्रमुख सिद्धांत भाव, विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन), अनुभाव, व्यभिचारि भाव एवं सात्विक भाव को आप जान पायेंगे।
- रस की अभिव्यक्ति इन भावों के माध्यम से किस प्रकार होती है इसका भी ज्ञान हो पायेगा।

11.1 प्रस्तावना

भारतीय काव्य का लक्ष्य 'अलौकिक आनंद' है। उसे ही रस कहते हैं। अन्य दोनों तत्त्व इस महत् तत्त्व के साधक हैं। नाटकों का मुख्य उद्देश्य है सामाजिकों के हृदयों में बीज रूप रत्यादि भावों का अंकुरित करना, जिससे श्रृंगार आदि रसों में निमग्न सामाजिक साधारणीकरण की अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे। रस की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भरत की उक्ति का कथन है कि—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः' अर्थात् विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। नाट्य में रस की प्रमुखता के विषय में नाट्यशास्त्र कहता है कि—'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' अर्थात् बिना रस ज्ञान के नाट्य के विभाव आदि अर्थों का समझना कठिन है। इस इकाई 11 में रससूत्र (भरतमुनि) और उनके प्रमुख सिद्धांत के अन्तर्गत रस की उत्पत्ति में स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का प्रमुख स्थान है।

11.2 रससूत्र भरतमुनि

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में रससूत्र को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—
‘विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।’ अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। मुनि भरत ने आस्वाद्यमान होने के कारण रस को रस कहा है। प्रसिद्ध नाट्यशास्त्रीय परम्परा में दशरूपक प्रणेता धनंजय के विचारानुसार रस परिभाषा इस प्रकार है—

‘विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैव्यभिचारिभिः।

आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावः रसः स्मृतः॥

अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों के माध्यम से स्थायी भाव के आस्वाद्यता पूर्ण स्थिति को प्राप्त हो जाने पर रसोत्पत्ति होती है जो रस कहलाने की पूर्णतः अधिकारिणी हो।

11.3 रससूत्र के प्रमुख सिद्धांत (अवयव)

रसों की उत्पत्ति में स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का प्रमुख स्थान हैं क्योंकि भाव की आधारशिला पर ही रस का राजप्रसाद अधिष्ठित है। अतः भावों का विवेचन रस सामग्री के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भावों के द्वारा ही रस की निष्पत्ति होती है। भाव मन के विकार को कहते हैं—**भावो मनसो विकारः।** नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में भाव एवं उनके भेद—प्रभेद का विस्तार पूर्वक विवेचन हुआ है। आरम्भ में प्रश्न उठता है कि इनकी भाव संज्ञा क्यों है? क्योंकि ‘भू’ धातु से बने ‘भाव’ शब्द की व्युत्पत्ति से दो विकल्प भरत के समय ही प्रचलित थे—**‘भवन्तीति भावाः’** तथा **‘भावयन्तीति भावाः’**। इनमें से प्रथम को इन्होंने स्वयं अस्वीकार किया है और केवल द्वितीय व्युत्पत्ति को ही नाट्य के सन्दर्भ ग्राह्य माना है। ‘भू’ धातु के दो मूल आशय हैं—**‘भू इति सत्तायां’** और **‘भू इति करणे।’** भाव शब्द की प्रथम व्युत्पत्ति सत्तात्मक आशय पर अधिष्ठित है जो वस्तु के स्वयमेव घटित होने अथवा सत्ता में आने का अभिप्राय स्पष्ट करती है। दूसरी करणात्मक अर्थ पर आधारित है, जो क्रिया की सिद्धि में साक्षात् साधन की धारणा की पुष्टि करती है। भरतमुनि ने स्पष्टतः दूसरी व्युत्पत्ति की स्वीकृति दी है और काव्यगत अर्थों को रंगमंच पर मूर्त करने में समर्थ क्रियाशील साधनों को ही भाव कहा है—**‘भावानिदानी व्याख्यास्यामः। अत्राह—भावा इति कस्मात्? किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः। उच्यते—वाङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा इति।** यह सत्तार्थक भू धातु से करण में घञ् प्रत्यय होकर भाव शब्द व्युत्पन्न होता है। भावित, वासित, कृत इसके पर्याय हैं। लोक में भी कहा जाता है कि इस गन्ध या रस से सब कुछ प्रभावित हो गया—**‘भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्था नेतरम्। लोकेऽपि च सिद्धिमहोद्घनेन गन्धेन रसेनवा सर्वमेव भावितमिति तच्च व्याप्यर्थम्।’** विभाव से जिस काव्यार्थ का आहरण होने पर वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय रूप अनुभावों से गम्य है उसी की भाव संज्ञा हुई है—

‘विभावेनराहृतो योऽर्थोऽह्यनुभावैस्तुगम्यते।

वागंगसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥’

वाक् अंग एवं मुखराग तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव की भावना कराने से ये भाव कहे गये हैं—

‘वागङ्गैमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतभाव भावन्मान उच्यते ॥’

चूँकि ये नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध तत्त्व रसों की भावना कराते हैं अतः नाट्य प्रयोक्ताओं ने इन्हे भाव की संज्ञा दी है—

‘नानाभिनयसंबद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्यादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥’

इस प्रकार व्यक्त विचारों से ‘भाव’ का आशय पर्याप्त व्यापक बन जाता है। प्रथम श्लोक के अनुसार वह काव्य के प्रायः समग्र अर्थ मात्रा का द्योतक प्रतीत होता है, द्वितीय के अनुसार कवि के आन्तरिक अमूर्त मनोभावों से भी सम्बद्ध हो जाता है और तृतीय में इसका स्वरूप रस की अभिव्यक्ति का साधन मात्र निर्धारित होता है।

ये भाव दो प्रकार स्थायी और अस्थायी के होते हैं। स्थायी भाव रस में आदि से अन्त तक तक विद्यमान रहते हैं, वे रस के मूल कहे जाते हैं। अस्थायी भाव के अन्तर्गत संचारी या व्यभिचारी भाव आते हैं जिसकी स्थिति क्षणिक होती है। वे लहर की भाँति उठकर अल्पकाल में अपना कार्य सम्पन्न कर विलीन हो जाते हैं। इनका उद्देश्य स्थायी भाव को गति देना है, अतः ये उसके सहायक होते हैं। आन्तरिक भावों की स्थिति या अभिव्यक्ति को अनुभाव कहा जाता है। इनके द्वारा रस का बोध या प्रतीति होती है। इस प्रकार भाव पाँच हैं— विभाव, अनुभाव, संचारी या व्यभिचारी, सात्त्विक एवं स्थायी भाव। इनमें क्रमशः आठ स्थायी, तैतीस व्यभिचारी भाव तथा आठ ही सात्त्विक भाव होते हैं। इन उनचास भावों को काव्य में रसाभिव्यक्ति का हेतु कहा गया है। इन्हीं से सामान्य युग योग से रसनिष्पन्न होंते हैं—

‘तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः । त्रयस्त्रिंशदव्यभिचारिणः । अष्टौ सात्त्विका इति प्रभेदाः ।
एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपञ्चाशद् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः । एभ्यश्च
सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते ॥’

11.3.1 स्थायी भाव

नाटक का ‘स्थायी भाव’ ‘नाट्य रस’ का मेरुदण्ड है। स्थायी भाव के स्वरूप निर्धारण से नाट्य-रस के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। सामान्य रूप से ‘स्थायी’ शब्द का अभिप्राय स्थिर रहने वाला है। रत्यादि आठ भावों के लिए इस विशेषण का प्रयोग किया है। नाट्यशास्त्र में गान-क्रिया के सन्दर्भ में भी स्थायी शब्द का प्रयोग मिलता है। इस स्थल पर वर्णों को आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी में विभक्त किया गया है।

यहाँ स्थायी वर्णों का अभिप्राय स्वरों की ‘समान’ स्थिति से है, जिसमें उसका न आरोह और न अवरोह होता है। नाट्य में जैसी गतिशीलता रहती है वैसी ही संगीत में भी होती है। संगीत के स्थायी स्वर का अभिप्राय उसकी गतिशीलता से रहित होना नहीं है वरन उसके स्वर की एक सुनिश्चित ‘समान’ गति से है। इसी प्रकार 49 नाट्य भावों में से 8 स्थायीभावों का अभिप्राय भी उनकी नाट्यात्मक क्रिया व्यापार से विरति या अगतिशीलता जन्म स्थिरता से नहीं है। इन भावों में जो सहृदय-संवेद्य होते हैं, वही रस पदवी को प्राप्त होते हैं जैसे अग्नि शुष्क काष्ठ में क्षण भर में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार ये भाव शरीर में झटिति व्याप्त हो जाते हैं—

‘योऽर्थो हृदयसम्वादी तस्य भावो रसोदभवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ।।’

इन उनचास भावों में से जो रस की अवस्था तक पहुँचता है वह परम या स्थायी भाव कहलाता है। कहा भी गया है कि—‘रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते’ अर्थात् वे भाव जो रसत्व प्राप्त करने के लिए प्रसिद्ध हैं वे स्थायी भाव हैं।

स्थायी, सात्विक एवं व्यभिचारी भावों में स्थायित्व का व्यपदेश सभिप्राय हुआ है। जब रत्यादि भाव विभावादि से पूर्णरूप से परिपुष्ट होकर रसत्व को प्राप्त होने की अवस्था में होते हैं तो स्थायी भाव कहे जाते हैं। अन्यथा प्रतीति मात्र होने से वह व्यभिचारी भाव की ही कोटि में रहते हैं—

‘रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः ।
स्तौकैर्विभावैः सम्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः ।।
उद्बुद्धमात्राः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।।’

इसीलिए नाट्यशास्त्र में कहा है कि—जिस प्रकार मनुष्यों में नृपति एवं शिष्यों के बीच गुरु महान एवं प्रधान होता है उसी प्रकार उनचास भावों में स्थायी भाव ही प्रधान एवं महान होते हैं—

‘यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।।’

स्थायी भाव आठ हैं— 1.रति 2.उत्साह 3.क्रोध 4.जुगुप्सा 5.हास्य 6.शोक 7.भय 8. विस्मय ।

11.3.2 विभाव

नाट्यगत रंगमंचीय ‘भाव’ का सामान्य स्वरूप निर्धारित करने के उपरान्त विभाव के स्वरूप को निश्चित करना अधिक कठिन नहीं है। इस प्रक्रिया में काव्यशास्त्र की अपेक्षा नाट्यशास्त्र के वचन—प्रमाणों को ग्रहण करना अधिक संगत होगा। क्योंकि इस तत्त्व की आविष्कृति सर्वप्रथम इसी सन्दर्भ में हुई थी। नाट्य के सम्पूर्ण भावों का उद्देश्य रंगमंच पर नाट्यरसों का निर्माण करना है। इस निर्मित—प्रक्रिया के मूलभूत कारणों में ही विभाव तत्त्व की अवधारणा को प्रश्रय दिया गया है। ‘विभाव’ शब्द में ‘वि’ उपसर्ग है, भाव के साथ इसे संयुक्त करके इसमें एक नवीन पारिभाषिक अर्थ गर्भित किया गया है। ‘वि’ उपसर्ग का अभिप्राय ‘विशेष’ या महत्वपूर्ण है और भाव का अर्थ नाट्यपरक साधन है। रसों के निर्माण की दृष्टि से 49 भाव नाट्य साधन हैं। विभाव तत्त्व इन साधनों को रंगमंच पर विज्ञात करने का महत्वपूर्ण निमित्त हेतु या कारण बन जाता है। भरतमुनि के ही मूल वचन है—‘विभाव इति कस्माद् उच्यते? विभावो विज्ञानार्थः । विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः । विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः । यथा विभावितं विज्ञातमिति अर्थान्तरम् ।।’

‘वहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः ।।’

अर्थात् विभाव शब्द का अर्थ विज्ञान है। इनके द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारी भावों का विशेष प्रकार से बोध होता है और ये अभिनयों के द्वारा विभावित होते हैं। कहने का आशय यह है कि किसी एक स्थायी भाव की रंगमंचगत उत्पत्ति के सन्दर्भ में

उल्लिखित विभावों की सूची के निरूपण से इनके वास्तविक स्वरूप को समझने में सहायता मिल सकेगी। आचार्य भरत ने 'आमोदात्मक' रति भाव को रंगमंच पर उपस्थित करने में निम्नलिखित विभावों को सहायता लेना उपयोगी ठहराया है। ऋतु, माला, अनुलेपन, आभरण, प्रियमिलन, विशाल भवन में निवास, किसी प्रकार की रुकावट विरोध का अभाव आदि। विभावों की इस सूची पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होगा कि इसमें कतिपय प्राकृतिक वस्तुएँ जैसे ऋतु, पुरुष आदि हैं, कतिपय मनुष्य निर्मित जैसे अनुलेपन, आभरण, विशाल भवन आदि हैं तो कतिपय सचेतन प्राणी जैसे प्रेमी-प्रेमिका आदि हैं।

सारांशतः लोकगत जड़-चेतन सभी पदार्थ विभाव के अन्तर्गत आ जाते हैं, जिन्हें रंगमंच पर भाव-रसानुरूप उपस्थित किया जा सके। इन विभावों की सहायता से रतिभावगत क्रिया व्यापारों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है, परिणामतः विभावों के कारण ही रत्यादि भाव मंच पर प्रकट हो जाते हैं। इसीलिए इनका उद्देश्य विज्ञानार्थः बताया गया है।

नाट्यशास्त्र में भावों और विभावों को भी हेतु, कारण या साधन माना गया है—'विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः' ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि वस्तुतः इन दोनों में रंगमंच की दृष्टि से ही क्यों न हो तात्त्विक अन्तर क्या है जहाँ तक रसों के निर्माण का प्रश्न है दोनों ही रंगमंचगत साधन हैं। अतः निर्मिति प्रक्रिया के व्यापक दृष्टिकोण से दोनों में कोई भिन्नता ही नहीं है। परन्तु रंगमंच पर इन साधनों की व्यावहारिक उपस्थापन की पद्धति से विचार करें तो इनमें निहित सूक्ष्म अन्तर का भी आभास स्पष्ट हो जाता है। 'भाव' वागंगसत्त्वोपेत काव्यार्थ की रंगमंच पर अभिव्यक्ति या निर्माण के साधन है तो 'विभाव' इन भावों तथा वाचिक, आंगिक एवं सात्विक अभिनयों की अभिव्यक्ति के कारण या निमित्त हैं। इसीलिए भरत ने विभावों से अभिनयों की अभिव्यक्ति मात्र को ही इनका मूलभूत कार्य माना है—'विभाव्यतेऽनेन वागंग सत्त्वाभिनया इति विभावाः' इस उक्ति से स्पष्ट है कि विभाव वह मूलभूत साधन है जिनके द्वारा वाचिक, आंगिक और तो सात्विक अभिनय 'विज्ञात' या प्रकट होते हैं। इस प्रकार विभाव के द्वारा एक ओर वाचिक, आंगिक आदि अभिनय सम्पन्न होते हैं तो दूसरी ओर 49 भावों को रंगमंच पर उपस्थित करने में उपयोगी अनेक मूलभूत पदार्थों के रूप में इनसे सहायता मिलती है। रसज्ञापन के कारण विभाव के दो प्रकार होते हैं—आलम्बन एवं उद्दीपन। आचार्य भरत ने आलम्बन और उद्दीपन विभाव के बारे में कहा है कि—

'उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपर्यान्त ये।

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा।।

अर्थात् जिनको देखकर रसोद्गम होता है उसे आलम्बन विभाव कहते हैं। जिन तत्त्वों के माध्यम से उत्पन्न हुआ स्थायी भाव उद्दीप्त होता हो, उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। यह उद्दीपन विभाव भी दो प्रकार का होता है—प्रथम जिनका सम्बन्ध नायक-नायिका गत क्रिया प्रतिक्रियाओं वेशभूषा आदि से होता है, द्वितीय जिनका सम्बन्ध देश, काल, उद्यान, चन्द्रोदय, पर्वत, नदी, वसन्त ऋतु आदि से होता है। आलम्बन विभाव से जहाँ स्थायी भाव उत्पन्न होता है, वहीं दूसरी ओर उद्दीपन विभाव से वह उत्पन्न हुआ रस उद्दीप्तावस्था को प्राप्त होता है।

11.3.3 अनुभाव

रस सूत्र में विभाव के उपरान्त ही अनुभाव को स्थान दिया गया है। 'विभाव' और अनुभाव शब्दों के मूल में 'भाव' शब्द का ही प्रमुख आधार है। आचार्य भरत ने अनुभाव के बारे में कहा है कि—

‘अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्ग सत्त्वकृतोऽभिनय इति।

वागङ्गाभनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।

शाखाङ्गोपाङ्ग संयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः।।’

अर्थात् जिससे वाक्, अंग तथा सत्त्व कृत अभिनय अनुभावित होते हैं उसे अनुभाव कहते हैं। कहने का आशय है कि जो तत्त्व अभिनय की प्रतीति कराता है वह अनुभाव है। नाट्य में अभिनय का महत्त्व असंदिग्ध है, अतः प्रकारान्तर से अनुभाव तत्त्व की गरिमा भी अक्षुण्ण सिद्ध होती है। अभिनय के जिन स्थूल चार प्रकारों का नाट्यशास्त्र में निरूपण है, वे हैं— वाचिक, आंगिक, सात्विक और आहार्य। इनमें से प्रथम तीन का ही अनुभाव स्वरूप की व्याख्या में प्रायः सर्वत्र उल्लेख मिलता है। अतः भरत की दृष्टि में अनुभाव के अन्तर्गत वे ही अभिनय—प्रपञ्च अर्न्तभूत हो सकते हैं जो वाणी की सहायता से सम्पन्न किये जाते हैं अथवा अंगो और सत्त्वों से निष्पन्न होते हैं। अन्य अभिनय—प्रकारों को अनुभावों में ग्रहण करना समीचीन न होगा। उदाहरणार्थ रति भाव के अभिनय में नायक—नायिका यदि बार—बार सुन्दर—सुन्दर वस्त्र बदल—बदलकर आतीं हैं तो इस आहार्य अभिनय को अनुभाव में ही अन्तर्भूत नहीं माना जा सकेगा भले ही यह विशिष्ट वेषभूषात्मक आहार्य अभिनय 'रति भाव' के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत किया गया हो। अनुभावों का सामान्य स्वरूप अभिनयात्मक है। किन्तु व्यापक अभिनय मात्र अनुभाव नहीं कहलाता। इसकी अपनी सीमा रेखा निर्धारित करने के लिए ही इसके प्रमुख तीन आधारों वाक्, अंग तथा सत्त्व का विशेष रूप से निर्देश किया गया है। इन तीनों आधारों के परिणाम स्वरूप अनुभाव तत्त्व का नाट्य तथा अभिनय की व्यापक भूमि में विलोप नहीं हो पाता। 'अनुभाव' अपने स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वरूप का आभास दे जाता है।

उदाहरणस्वरूप भरत ने शृंगार रस की निष्पत्ति में सहायक अनुभावों की गणना इस प्रकार की है—नयन चातुर्य, भ्रू—विक्षेप, कटाक्ष—संचार, ललित, आंगिक चेष्टाएँ, मधुर वाक्योच्चारण आदि अनुभावों से अभिनय करना चाहिए। अनुभावों की उपर्युक्त सूची केवल इतनी ही नहीं है क्योंकि नाट्यशास्त्र में आठों रसों के अनुभावों की पृथक्—पृथक् गणना की गयी है। अनुभावों की कुल संख्या कितनी हो सकती है? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर कठिन है, क्योंकि लोकस्वाभावानुरूप उनकी वृद्धि अथवा न्यूनता सर्वथा सम्भव है। नाट्यशास्त्र में आठ रसों के अतिरिक्त आठ स्थायी भावों तथा तैंतीस व्यभिचारी भावों के भी पृथक्—पृथक् निजी अनुभावों का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

11.3.4 व्यभिचारी भाव

स्थायी भावों के समान व्यभिचारी भावों को नाट्य में ग्रहण करने का मूल स्रोत तत्कालीन लोकजीवन, मानवीय आचरण तथा सामाजिक जीवन से सम्बद्ध लोक व्यवहार है। आचार्य भरत ने व्यभिचारी भाव की परिभाषा देते हुए नाट्यशास्त्र में कहा है कि—

विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः ।

वाग्ङ्गसत्वोपेताः प्रयोगे रसन्यन्तीति व्यभिचारिणः ॥

रससूत्र भरतमुनि और
उनके प्रमुख सिद्धांत
(अवयव)

अर्थात् विविध रूपों में वाक्, अंग तथा सत्त्वादि के द्वारा रस के प्रति संचरण शील होना ही इनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसी कारण रस के प्रति विविध प्रकार से संचरित होने वाले इन विभावों को संचारी भाव भी कहा जाता है। भरत पूर्व के नाट्याचार्यों ने इसी जीवन्त औघ से 33 व्यभिचारी भावों का अनुसंधान किया था अतः इसमें से प्रत्येक भावों की नाट्यात्मक अभिव्यक्ति होती है क्योंकि नाट्यशास्त्र की धारणा है कि लोकाचरण लोकप्रकृति पर निर्भर करता है और लोक प्रकृति लोगों के शील स्वभाव पर अवलम्बित होते हैं। मानव समाज नाना शील प्रकृतियों वाले मनुष्यों की समष्टि है, जिसमें उत्तम, मध्यम, अधम सभी प्रकार के स्त्री पुरुषों तथा देव-दानवों का अन्तर्भाव है। व्यभिचारी भावों का सम्बन्ध मूलतः उन सभी प्रकार के व्यक्तियों से है, अतः इनकी अभिनय प्रक्रिया भी इन्हीं स्वभाव सापेक्षता में निरूपित की गयी है। उदाहरणार्थ निर्वेद व्यभिचारी भावों का अभिनय उत्तम प्रकृति के पुरुष, स्त्रियाँ तथा नीच प्रकृति के व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत करेंगे। यद्यपि मूलतः निर्वेद भाव एक है किन्तु उसकी अभिनय पद्धतियाँ व्यक्ति स्वभाव सापेक्षता में निरूपित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य भरत का उद्देश्य व्यभिचारी भावों के अभिनेय रूपों की मीमांसा करना रहा है न कि अनभिनेय अमूर्त, मनोभावानात्मक अथवा अस्थिर चित्र वृत्तियों का। निर्वेद, ग्लानि, मद आदि व्यभिचारी भाव शारीरिक, मानसिक अथवा जन्मजात अथवा साधित है संस्कार रूप में अवशिष्ट रहते हैं अथवा नष्ट हो जाते हैं इत्यादि प्रश्नों की समीक्षा भरत ने नहीं की है। प्रस्तुत चिन्तन को वे या तो नाट्यशास्त्र से इतर शास्त्रों के अधिकार की वस्तु मानते हैं अथवा नाट्यभावों के उपस्थापन प्रक्रिया में इसे अनावश्यक मात्र समझते रहे होंगे। भरत के सामने मूल समस्या थी— लोक प्रकृति को वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विकों में रूपान्तरित करते हुए उसे नाट्यात्मक स्वरूप प्रदान करने की। अनेक आधुनिक विचारकों ने पाश्चात्य मानस शास्त्र का आधार लेकर भरत के द्वारा बताये गये 33 व्यभिचारी भावों द्वारा अनेक वर्गों में विभक्त किया है—

1. शारीरिक अवस्था के दर्शक— ग्लानि, मद, श्रम, आलस्य आदि।
2. भावनाओं की तीव्रता के दर्शक— चपलता, आवेग आदि।
3. प्राथमिक भावनाएँ— शंका, अमर्ष आदि।
4. मिश्र भावनाएँ— क्रीड़ा, असूया आदि।
5. ज्ञानात्मक अवस्थाएँ— मति, विर्तक आदि।
6. साधित भावनाएँ— औत्सुक्य, दैन्य आदि।

यह कहने की आवश्यकता नहीं थी इस प्रकार का कोई भी वर्गीकरण भरत सम्मत नहीं है, क्योंकि रंगमंचीय अभिनय की दृष्टि से ये सभी व्यभिचारी भाव कारण या साधन हैं। इनके स्थायी भावानुरूप या रसानुरूप संयोग से रस निष्पत्ति होती है। भरत की दृष्टि में आठ नाट्य रस निष्पन्न होते हैं। अतः आठों रसों के व्यभिचारी भाव भी रसानुरूप वर्गीकृत हुये हैं। रंगमंचगत रस निष्पत्ति में व्यभिचारी भावों वास्तविक स्वरूप क्या होता है? वे किस पद्धति से रसों में संचरण करते हैं? इन दोनों प्रश्नों का समाधान नाट्य के परिप्रेक्ष्य में ही भरत ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है—'व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह व्यभिचारिण इति कस्मात्? उच्यतेवि

इत्येतावुपसर्गौ । चर् इति गत्यर्थो धातुः विविधमाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिणः' अर्थात् वि और अभि ये दोनों उपसर्ग हैं और चर धातु है जिसका अर्थ गति या गमन है। विविधता और अभिमुख्यता से जो रसों में संचरण करते हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। यह तो पारिभाषिक व्यभिचारी भाव शब्द की निरुक्ति हुई तथा तद्गत अर्थ का स्पष्टीकरण मात्रा हो गया। परन्तु रंगमंच गत रस निष्पत्ति में इनके वास्तविक स्वरूप की स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं हो पायी थी, अतः इन्होंने इसके उपरान्त ही स्पष्ट किया है—'वागंगसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान् नयन्तीति व्यभिचारिणः' अर्थात् वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से समन्वित होकर ही व्यभिचारी भाव रसों को प्रयोग में ले जाते हैं, अतः व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

इस उक्ति का अभिप्राय ठीक उसी प्रकार का नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार की कोई व्यक्ति किसी को अपने कंधे पर बिठाकर लाता है, बल्कि लोकव्यवहार में जैसे सूर्य द्वारा दिन या नक्षत्र को लाने की उक्ति प्रचलित है—'अत्राह कथं नयन्तीति । उच्यते—लोकसिद्धान्त एषः यथा सूर्य इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति । न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते । किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत् यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति । एवमेते व्यभिचारिणः इत्यवगन्तव्यां ।' इस प्रकार विविध रूपों में रसों की ओर अनुकूल होकर संचरण करना ही इनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यह संचरण वाक्, अंग एवं सत्त्वादि के द्वारा होता है। आचार्य भरत के समय 'नाट्य रस' की अभिव्यक्ति में समर्थ भावों की कुल संख्या 49 निर्धारित की गयी थी। इनमें भी सर्वाधिक गणना व्यभिचारी भावों की है जो कि 33 हैं।

11.3.5 सात्त्विक भाव

नाट्यशास्त्र के रससूत्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव का उल्लेख है, किन्तु सात्त्विक भाव का नहीं है। इसी प्रकार 'स्थायिभाव' भी इसमें उल्लिखित नहीं है। परन्तु नाट्य के 49 भावों में समाविष्ट स्थायी—सात्त्विक भावों के स्वरूप के विषय में रसनिष्पत्ति की दृष्टि से अनेक शंकाओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। नाट्य के धरातल पर सभी भाव अभिनेय हैं, फिर सात्त्विकों को ही पृथक् से निरूपित क्यों किया गया है? वह कौन—सी कसौटी है जो सात्त्विक भावों के निजी स्वरूप का निर्धारण करती है?

नाट्यशास्त्र के अनुसार 'सत्त्व' का अभिप्राय है—'मनः प्रभव' या 'मनः सत्त्व' से निर्मित देहाधिष्ठित भाव ही सात्त्विक भाव कहलाते हैं—'देहात्मकं भवेत् सत्त्वम्' नाट्यशास्त्र में इन भावों की कुल संख्या आठ है—स्वेद, स्तम्भ, कम्प, अश्रु, वैवर्ण्य, रोमाञ्च, स्वरसाद और प्रलय। सात्त्विक भावों की प्रस्तुत संज्ञाएँ इनकी देहात्मकता या शारीरिक प्रतिक्रियात्मकता को ही अत्यन्त स्पष्ट कर देती हैं।

सात्त्विक भावों के स्वरूप—विवेचन से पूर्व स्थायीभावों तथा व्यभिचारीभावों की रंगमंचगत प्रयोगाधिष्ठित स्थिति का नाट्यशास्त्र में अत्यन्त स्पष्ट विवेचन हो चुका है। रंगमंच पर जिस प्रकार रति, शोक, उत्साह आदि भाव अपने नाट्य—परम्परा प्रदत्त स्वामित्व या प्रयोगगत स्थायित्व के कारण स्थायी भाव कहलाते हैं, उसी प्रकार निर्वेद, ग्लानि, निद्रा आदि व्यभिचारी भाव भी अपनी रसानुरूप संचरणशीलता या प्रयोगगत गतिशीलता के कारण व्यभिचारी भाव कहलाते हैं, इसी प्रकार स्तम्भ, कम्प, रोमाञ्च आदि भाव भी नाट्य प्रयोगगत सात्त्विकता के कारण सात्त्विक भाव कहलाते हैं, यहाँ यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि यह 'सात्त्विकता' क्या वस्तु है? आचार्य भरतमुनि ने ही इस शंका का समाधान अत्यन्त वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने नाट्य के

पात्रों की मनः स्थिति को, उनकी स्थूल शारीरिक प्रतिक्रियाओं को नाट्य प्रयोग से अभिन्न मानकर ही सत्त्व को इस प्रकार से विश्लेषित किया है—‘इह हि सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्वाद् उच्यते। मनसः समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिः भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमांचाश्रुवैवर्ण्यादि लक्षणो यथाभावोपगतः स न शक्यो अन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्वाभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीत्सितम्’ अर्थात् सत्त्व का आशय है मन से उत्पन्न और मन से उत्पन्न का अभिप्राय है—मन की समाहित या तल्लीनता तथा मन की तल्लीनता समाधि से सत्त्व की निष्पत्ति होती है। उसका नाट्य—भावों में रूपान्तरित जो रोमांच, अश्रु, वैवर्ण्य आदि लक्षणों वाला स्वभाव है, उसको बिना मन लगाए रंगमंच पर निर्मित नहीं किया जा सकता। नाट्य तो ‘लोकस्वभाव’ के अनुकरण पर आधारित है, इसलिए इसमें सत्त्व की नितान्त आवश्यकता होती है।

इसके आगे भरत ने एक अत्यन्त व्यवहारिक दृष्टान्त देकर रंगमंच पर सात्त्विक भावों के निर्माण की प्रायोगिक पद्धति इस प्रकार से अवगत करायी है—‘को दृष्टान्तः? इह हि नाट्य धर्मिप्रवृत्ताः सुखदुःखकृताः भावाः तथा सत्त्वीशुद्धाः कार्याः यथासरूपाः भवन्ति। तत्र दुःखं नाम रोदनात्मकं तत्कथं दुःखितेन सुखं च प्रहर्षात्मकसुखितेन वाभिनयेयम्। एतदेवास्य सत्त्वं यत् दुःखितेन सुखितेन वा अश्रुरोगाव्यौ दर्शितव्यौ इति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभिव्याख्याताः’ अर्थात् रंगमंच पर नाट्य—धर्म का अनुसरण करके सुख—दुःख से जो भाव निर्मित किए जाते हैं, उनका अत्यधिक सात्त्विक रूप में अभिनय करना चाहिए जिससे वे नितान्त स्वाभाविक अर्थात् स्वरूप प्रतीत हो। दुःख रोदनात्मक होता है, प्रथमतः मन में दुख लाये बिना उसका अभिनय कैसे कर सकेंगे और सुख प्रहर्षात्मक है, अतः मन में दुखी रहकर उसका अभिनय भी कैसे हो सकेगा। अतः सात्त्विक भावों के अभिनय की सात्त्विकता इसी बात पर निर्भर करती है कि नट द्वारा दुखी होकर अश्रु का और मन से सुखी होकर रोमांच का अभिनय किया जाए इसी कारण इन्हें सात्त्विक भाव कहा गया है।

11.4 रससूत्र के प्रमुख सिद्धांतों (अवयवों) के द्वारा रसाभिव्यक्ति

नाट्यशास्त्र का सम्पूर्ण सातवाँ अध्याय नाट्य—भावों के क्रियाव्यापार—निष्ठ स्वरूप की मीमांसा के लिए ही रचित है। रस निष्पत्ति के सहायक प्रमुख तत्त्व विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, सात्त्विक भाव और स्थायी भाव हैं। इस सन्दर्भ में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इन पाँचों रस—तत्त्वों के साथ ‘भाव’ शब्द समान रूप से संलग्न है। बिना किसी विशिष्ट प्रयोजन के इस शब्द की इतनी अधिक पुनरावृत्ति नहीं की गयी है। वस्तुतः नाट्य प्रयोक्ताओं की दृष्टि को एक विशिष्ट दिशा में केन्द्रित रखने के लिए ही ऐसा किया गया है, जिससे वे रसों तथा उसके अवयवों में अन्तर्निहित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण की उपेक्षा न कर सकें। यदि पूर्वोक्त भाव—स्वरूप को ध्यान में रखें तो स्पष्ट होगा कि यह बहु—उद्घोषित गुण ‘क्रिया व्यापारात्मक’ ही है, जो इन सभी रसतत्त्वों में अनिवार्यतः व्याप्त रहता है। उदाहरणार्थ आठ नाट्य—रसों में से किसी एक रस की रंगमंचीय निष्पत्ति प्रक्रिया को लें और उससे सम्बद्ध पाँचों रस तत्त्वों की मीमांसा करें तो इस मन्तव्य का सहज स्पष्टीकरण हो सकेगा। अब भावों के रंगमंचीय क्रियाव्यापारनिष्ठ स्वरूप की स्पष्ट जानकारी के लिए सुप्रसिद्ध ‘करुण रस’ को लेते हैं। उसका विश्लेषण निम्न पद्धति से सहज सम्भव हो जाता है। इस रस का स्थायी भाव शोक है। यह रंगमंच पर नाट्यात्मक क्रियाव्यापार में जब परिणत होगा तभी इसे ‘स्थायी भाव’ यह विशिष्ट परिभाषा प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं। इस स्थिति में इसे

परिणत करने में सर्वप्रथम सहायक साधन विभाव है। यह साधन भी क्रियाव्यापार—शून्य नहीं होगा। नाट्यशास्त्र के अनुसार शोक स्थायी भाव के निम्नलिखित विभाव हैं—इष्ट जन—वियोग, विभ्वनाश, वध, बन्धन, दुःखानुभवन आदि है। इसमें कतिपय जड़ वस्तुएँ हैं, तो कतिपय सचेतन है। इन दोनों प्रकार के साधनों का जब रंगमंच पर उपस्थापन होगा तो इसमें गतिशीलता तथा क्रियाव्यापारनिष्ठता अनिवार्यतः लानी होगी। क्योंकि लोकगत जड़—चेतन वस्तुएँ जब मंच पर उपस्थित होती हैं तो उसमें नाट्यधर्मिता का कलात्मक समावेश नितांत अपेक्षित होता है। यही स्वभाव और विभाव का व्यावर्तक तत्त्व बन जाता है, प्रथम में इसकी अपेक्षा नहीं होती, वह लोकगत यथार्थ है, अतः स्वभाव है, किन्तु दूसरे में इसका अन्तर्भाव उसे रंगमंचोपयोगी एवं कलात्मक बना देता है। नाट्य की इस विभाव परिभाषा को परवर्ती काव्यशास्त्र ने भी ग्रहण किया है, परन्तु रंगमंचीय नाट्यधर्मिता के इस मूलभूत गुण को वहाँ दुर्लक्षित कर दिया गया है। परिणामतः श्रव्य काव्यों के शब्दार्थों में ही नाट्य धर्मिता को अन्तर्भूत समझ कर वहाँ भी विभाव तत्त्व की अवस्थिति मान ली गयी है, इसे नाट्यकला की दृष्टि से संगत नहीं ठहराया जा सकता। अतः 'विभाव' तत्त्व की रंगमंचीय क्रिया व्यापार निष्ठता तथा नाट्यमानता को स्वीकृति दिये बिना इसके स्वरूप की अवधारणा ही मूलतः कठिन हो जायेगी। इसी दृष्टिकोण से भरत ने एक स्थान पर इसकी कार्य व्यापार निष्ठता को स्पष्ट मान्यता दी है—

‘एवमन्येष्वपि तथा नाना कार्यत्व दर्शनात् ।

विभावो वापि भावो वा विज्ञेयोऽर्थवशाद्बुधैः ।।’

शोक भावना को रंगमंचीय स्थायिभावत्व में परिणत करने में दूसरा सहायक तत्त्व 'अनुभाव' है। इसके अन्तर्गत भी क्रियाव्यापारों की समाहिती पर किसी को सन्देह ही नहीं हो सकता। क्योंकि इसकी मूल परिभाषा में ही इस तथ्य का स्पष्टीकरण हो जाता है—नाना अर्थों से निष्पन्न वाक्, अंग तथा सत्वों से किये गये अभिनय को जो व्यक्त करता है, वह अनुभाव कहलाता है—**‘यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागंग सत्त्वैकृतोऽभिनयः।’** शोक—स्थायी भाव के नाट्यशास्त्र—निरूपित अनुभाव निम्नलिखित है—अश्रुपात्, पश्चात्ताप, विलाप, वैवर्ण्य, स्वरभेद, शिथिलगात्र, भूमिपतन, सस्वन—रुदन, आक्रन्दन, दीर्घनिश्वास, जड़ता, उन्माद, मोह, मरण आदि। इस सूची में कुछ पारिभाषिक सात्विक भाव अन्तर्भूत हैं, जैसे अश्रुपात, वैवर्ण्य, स्वरभेद आदि और कतिपय व्यभिचारी भाव भी जैसे जड़ता, उन्माद, मोह, मरण आदि। नाट्यशास्त्र में आठ सात्विक भावों तथा 33 व्यभिचारी भावों की रंगमंचगत अभिनय—प्रक्रिया विस्तार से समझायी गयी है, अतः इन दोनों प्रकार के भावों की क्रियाव्यापारनिष्ठता के विषय में सन्देह के लिए अवकाश ही नहीं है, फिर भी यहाँ इनमें से एक—एक उदाहरण देकर भरत के 'भाव' विषयक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण अनुचित न होगा।

काव्यार्थ नाट्यभावों में कैसे परिणित होते हैं, इसे समझने के लिए उपर्युक्त शाकुन्तल नाटक की काव्य—पंक्तियाँ ही पर्याप्त होंगी। इसमें निरूपित स्तम्भित कण्ठ, अश्रु, चिन्ता से जड़ीभूत दृष्टि, वैकल्य आदि 'अर्थ' शब्द—बद्ध हैं, इन्हें ही कण्वरूपी नट अपने आंगिक, सात्विक आदि अभिनयों से मंच पर मूर्तित करते हैं, उस स्थिति में ही इन्हें नाट्य भावों की पारिभाषिक संज्ञा प्राप्त होती है अन्यथा वे अमूर्त शब्द बद्ध काव्यार्थ मात्र हैं, नाट्य भाव नहीं है। इसी कारण भरत की दृष्टि में नाट्यकला के सन्दर्भ में अश्रु, रोमांच, स्वेद, स्तम्भ आदि भी 'भाव' सात्विक कहलाते हैं, जड़ता, मरण, आलस्य आदि भी 'भाव' स्थायी की ही परिधि में आ जाते हैं। क्योंकि इन सभी 49 भावों को मंच पर अभिनय में मूर्तित करना अपेक्षित होता है और नाट्यशास्त्र की रचना

इसी कला का व्यावहारिक प्रशिक्षण देने के लिए हुई है। भरतमुनि ने इनमें से प्रत्येक भाव के मंचगत मूर्तीकरण या अभिनयीकरण की प्रक्रिया बड़े विस्तार से समझायी है। अतः नाट्यकला तथा रंगमंच-प्रयोग की दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट होगा कि भरत-निरूपित भावों का स्वरूप न तो कवि के मन में अन्तर्हित अमूर्त अनुभूतिमयी चेतना है। साथ ही अभिनेता नट-नटी के लिए भी भावों की उपर्युक्त अगोचर-अमूर्त स्थिति में ही सदैव स्वयं बने रहना उपादेय नहीं होता, क्योंकि ऐसी दशा में उनका कलात्मक अभिनयीकरण ही उनके लिए असम्भव हो जायेगा। परिणामतः भरत-निरूपित सभी भावों को अभिनय में मूर्तित नाट्य के साधनात्मक तत्वों के रूप में ही ग्रहण करना सर्वथा समीचीन होगा। संक्षेप में नाट्य में भाव संज्ञा उन साधनों के रूप में है जो स्वयं वाक्-अंग-सत्त्वोपेत होते हैं तथा इन तीनों तत्वों से युक्त काव्यार्थ को रंगमंच पर क्रिया परम्परात्मक या अभिनयात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

सात्विक भाव 'अश्रु' तो जल-बिन्दु मात्र होते हैं, ये मानवीय अमूर्त मनोभावनाएँ नहीं हो सकते, फिर इन्हें नाट्यशास्त्र में भावों के अन्तर्गत क्यों स्थान दिया गया है। इस प्रश्न का समाधान 'भाव' की पूर्वोक्त विशिष्ट परिभाषा को स्वीकृति दिये बिना सम्भव ही नहीं है। रंगमंचीय 'क्रियाव्यापारनिष्ठता' की कसौटी पर ही अश्रु का भावत्व सिद्ध होता है। प्रमाण के लिए नाट्यशास्त्र में 'अश्रु' भाव के क्रिया व्यापारों की मीमांसा इस प्रकार की गयी है-नेत्रों को अश्रु-जल से पूरित कर लेना, नेत्रों को बार-बार पोंछना, अश्रुकणों को लगातार गिराते जाना आदि। इसमें आँसुओं से नेत्रों को भरना, पोंछना, उन्हें गिराना आदि नाट्य के क्रिया व्यापार ही तो हैं, परिणामतः 'अश्रु' भी भाव की परिधि में ही आते हैं। इन्हें 'सात्विक' क्यों कहा जाय? इस शंका का समाधान भी भरत ने विस्तार से कर दिया है।

इसी प्रकार शोक स्थायी भाव के एक विशिष्ट व्यभिचारी भाव 'मरण' का भावत्व भी नाट्यशास्त्र में निरूपित है। इसमें मरण के दो मूलभूत कारणों-व्याधिज तथा अभिघातज का प्रथम उल्लेख है, तदुपरान्त इन दोनों प्रकारों में संभाव्य विभिन्न शारीरिक क्रिया व्यापारों का निरूपण है। मरण या मृत्यु के विभिन्न कारणों के अनुरूप ही उसके शारीरिक क्रिया व्यापारों का निरूपण है। मरण या मृत्यु के विभिन्न कारणों के अनुरूप ही उसके शारीरिक कार्य व्यापारों में भी विविधता आ जाती है, इस तथ्य को दृष्टि में रखकर ही व्याधि, शस्त्रप्रहार, सर्पदंश तथा विषपान-जन्य मरणों की पृथक्-पृथक् अभिनय-प्रक्रियाएँ निर्दिष्ट की गयीं हैं। इसका उद्देश्य स्पष्ट है अभिनेताओं को 'मरण' भाव में अन्तर्निहित विविध कार्य-व्यापारों की व्यावहारिक जानकारी उपलब्ध हो सके। यदि इस व्यभिचारी भाव का अभिप्राय केवल मृत्यु या शरीरावसान माना जाय तो इसके विविध क्रिया-व्यापारों का निर्देश अनावश्यक प्रतीत होगा, इसी प्रकार इसे यदि मृत्युपूर्व की अमूर्त चित्तवृत्ति या तत्कालीन मनोभावना मात्र मानें तो उस दशा में उपर्युक्त आक्षेप ही बराबर बना रहता है। अतः शोक स्थायीभाव के रंगमंचीय मूर्तीकरण में मरण तथा अश्रु इन दोनों भावों के विशिष्ट क्रियाव्यापारात्मक स्वरूपों को ही मान्यता देना नितान्त संगत प्रतीत होता है और नाट्यशास्त्रोक्त भाव-प्रतिपादन-शैली इसी व्यावहारिक निष्कर्ष पर पहुचने के लिए बाध्य करती है।

'वाक्' वाणी या शब्दों की स्थिति श्रव्य काव्य और दृश्य नाट्य में भी होती है। परन्तु दृश्य नाट्य की 'वाक्' को श्रव्य काव्य से भिन्न रूप में दर्शाने के लिए इसे अनुभाव की परिधि में अन्तर्भूत कर दिया गया है। आंगिक-सात्विक क्रिया व्यापारों की भाँति इसे भी अभिनय का अविभाज्य अंग निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार अन्-अभिनीत

काव्य या श्रव्य काव्य के वाक्-अंग-सत्त्व जब मंच पर नाट्यायित होते हैं तब वे अनुभाव की ही एक विशिष्ट परिभाषा से अभिहित होते हैं और इनमें क्रिया व्यापारत्व अनिवार्यतः अन्तर्निहित होता है।

इस प्रकार अनभिनीत नाटक या श्रव्य के समस्त मूर्त-अमूर्त या जड़-चेतन 'अर्थों' को नाट्य में परिणत करने के लिए 'भाव' नामक एक विशिष्ट किन्तु व्यापक तत्त्व की आविष्कृति की गयी थी। रंगमंचीय क्रियाव्यापारनिष्ठता इसकी मूलभूत विशेषता है और काव्यार्थ मात्रा को आत्मसात कर लेना अथवा अपने में व्याप्त कर लेना इसका महत्वपूर्ण गुण है। भाव के इस विशिष्ट स्वरूप को दृष्टि में रखकर ही इसे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव, सात्त्विक भाव तथा स्थायी भाव आदि रस-निष्पादक तत्त्वों से सम्बद्ध किया गया है।

परिणामतः उपर्युक्त 'शोक स्थायी भाव' प्रेक्षक की आस्वादात्मक अमूर्त मनोभावना के लिए व्यवहृत परिभाषा नहीं है, वरन नाट्यकला तथा रंगमंच से ही इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है और नटों द्वारा विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों की भाँति इसे भी नाट्य के शोक सम्बद्ध अर्थ को अभिनयात्मक क्रिया व्यापार में परिणत स्थिति-विशेष से भिन्न नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार रस एवं भाव के अभिव्यक्ति की एक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से ही काव्यार्थ या नाट्याभिनय में सहृदय (प्रेक्षक) रसानुभूति किया करते हैं।

बोध प्रश्न-1

- निम्नलिखित प्रश्नों के ठीक उत्तरों पर सही (✓) का चिन्ह लगाइये।
 - भाव कितने प्रकार के हैं? (दो/चार)
 - स्थायी भाव के अन्तर्गत कितने भाव आते हैं? (आठ/सोलह)
 - अस्थायी भाव के अन्तर्गत कौन सा भाव आता है? (व्यभिचारी भाव/सात्त्विकभाव)
 - सात्त्विक भाव कितने हैं? (आठ/नौ)
- रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
 - अनुभाव को की संज्ञा दी है? (कारण/कार्य)
 - व्यभिचारिभाव हैं? (33/49)

बोध प्रश्न-2

- विभाव को स्पष्ट कीजिए।
.....
.....

- अनुभाव को स्पष्ट कीजिए।
.....
.....

अभ्यास प्रश्न 1

- रस के सिद्धांतों (अवयवों) द्वारा रसाभिव्यक्ति को स्पष्ट कीजिए।

11.5 सारांश

इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

काव्य रस का सविध एवं सांगोपांग निरूपण सर्वप्रथम आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में किया है। नाट्यशास्त्र की रचना नाट्य के रंगमंच पर प्रयोग को ध्यान में रखकर की गई है। नाट्यशास्त्र के षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में रस एवं भावों की विस्तार पूर्वक मीमांसा हुई है। वहीं पर भरत ने आठ रसों की गणना कराते हुए उन्हें द्रुहिण प्रोक्त बताया गया है—‘एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना।’ देवी भागवत के अनुसार द्रुहिण ब्रह्मा का ही दूसरा नाम है—द्रुहिणे सृष्टिशक्तिश्च हरौ पालनशक्तिता।’ द्रुहिण पद से भरत का निर्देश भी ब्रह्मा की ओर ही प्रतीत होता है। ब्रह्मा ने ही देवताओं के आग्रह पर चारों वेदों से नाट्य के चार मुख्य तत्त्व पाठ्य, संगीत, अभिनय एवं रस का क्रमशः ग्रहण कर नाट्यवेद की रचना की है। रस का सामान्य लक्षण करते हुए भरत ने कहा है कि—‘तत्रा विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।’ अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्याभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। ये भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी और अस्थायी। स्थायी भाव रस में आदि से अन्त तक तक विद्यमान रहते हैं, वे रस के मूल कहे जाते हैं। अस्थायी भाव के अन्तर्गत संचारी या व्यभिचारी भाव आते हैं जिसकी स्थिति क्षणिक होती है। वे लहर की भाँति उठकर अल्पकाल में अपना कार्य सम्पन्न कर विलीन हो जाते हैं। इनका उद्देश्य स्थायी भाव को गति देना है, अतः ये उसके सहायक होते हैं। आन्तरिक भावों की स्थिति या अभिव्यक्ति को अनुभाव कहा जाता है। इनके द्वारा रस का बोध या प्रतीति होती है। इस प्रकार भाव पाँच हैं— विभाव, अनुभाव, संचारी या व्यभिचारी, सात्त्विक एवं स्थायी भाव। इनमें क्रमशः आठ स्थायी, तैतीस व्यभिचारी भाव तथा आठ ही सात्त्विक भाव होते हैं। इन उनचास भावों को काव्य में रसाभिव्यक्ति का हेतु कहा गया है। इन्हीं से सामान्य युग योग से रसनिष्पन्न होते हैं।

11.6 शब्दावली

स्थायीभाव	—	जिन भावों को विरोधी अथवा अविरोधी भाव कभी नष्ट नहीं कर पाते उन्हें स्थायी भाव कहते हैं।
संचारी भाव	—	जो भाव क्षण-क्षण में संचरित होकर स्थायी भाव का पोषण करते हैं उन्हें स्थायी भाव कहते हैं।
अनुकार्य	—	वे पात्र जिनका नाटक के माध्यम से अनुकरण किया जा रहा है अर्थात् राम—सीता या दुष्यन्त—शकुन्तला

11.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- अग्निपुराण, अग्निपुराणकार, बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा सीरीज, वाराणसी, 1966
- अभिनवभारती के तीन अध्याय, अभिनवगुप्त, सम्पादक नगेन्द्र, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- काव्यप्रकाश, मम्मट सम्पादक एवं व्याख्या, विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 1988
- नाट्यशास्त्र, भरतमुनि सम्पादक एवं व्याख्या, बटुक नाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1980

- वाक्यपदीय, भर्तृहरि, सम्पादक के. एस अय्यर, भण्डाकर रिसर्च सेन्टर, पूना, 1963
- रससिद्धांत आक्षेप और समाधान, सुन्दर लाल कथूरिया, आदर्श साहित्य प्रकाशन, 1972
- संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पी.वी काणे, मोतीलाल बनारसी दास वाराणसी,
- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पी.वी. काणे, अनुवादक इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, बनारसी, प्रथम संस्करण
- संस्कृत काव्यशास्त्र में लक्षणा का उद्भव एवं विकास, ठाकुर दत्त जोशी, राजस्थानी ग्रन्थालय, जोधपुर, जनवरी 1986
- अलंकार शास्त्र का इतिहास, कृष्णकुमार, साहित्य भण्डार मेरठ
- काव्यशास्त्र एवं साहित्यिक समालोचना सुबोध, डॉ. देशराज, अमरपब्लिकेशन, दिल्ली

11.8 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. (i) दो (ii) आठ (iii) व्यभिचारी भाव (iv) आठ
2. (i) कार्य (ii) 33

बोध प्रश्न-2

- 1 विभाव तत्त्व इन साधनों को रंगमंच पर विज्ञात करने का महत्त्वपूर्ण निमित्त हेतु या कारण बन जाता है। भरतमुनि के ही मूल वचन है—'विभाव इति कस्माद् उच्यते? विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमिति अर्थान्तरम्।'

'वहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः।।'

अर्थात् विभाव शब्द का अर्थ विज्ञान है। इनके द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारी भावों का विशेष प्रकार से बोध होता है और ये अभिनयों के द्वारा विभावित होते हैं।

- 2 आचार्य भरत ने अनुभाव के बारे में कहा है कि—

'अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति।
वागङ्गैभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्गैसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः।।'

अर्थात् जिससे वाक्, अंग तथा सत्त्व कृत अभिनय अनुभावित होते हैं उसे अनुभाव कहते हैं। कहने का आशय है कि जो तत्त्व अभिनय की प्रतीति कराता है वह अनुभाव है।

अभ्यास प्रश्न—

इस प्रश्न का उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखें।